प्रश्न

गजानन माधव मुक्तिबोध

प्रश्न

एक लड़का भाग रहा है। उसके तन पर केवल एक कुर्ता है और एक धोती मैली-सी! वह गली में भाग रहा है मानो हजारों आदमी उसके पीछे लगे हों भाले ले कर, लाठी ले कर,

https://www.hindiadda.com/prash%e2%80%8dna/

बरछियाँ ले कर। वह हाँफ रहा है, मानो लड़ते हुए हार रहा हो! वह घर भागना चाहता है, आश्रय के लिए नहीं, छिपने के नहीं; पर उत्तर के लिए, एक प्रश्न के उत्तर के लिए! एक सवाल के जवाब के लिए, एक संतोष के लिए!

गली से दौड़ते-दौड़ते उसका पेट दुखने लगता है, अँतड़ियाँ दुखने लगती हैं, चेहरा लाल-लाल हो जाता है। वह पीछे देखता है, उसका पीछा करनेवाला कोई भी तो नहीं है! गली सुनसान पड़ी है। हलवाई की दुकान पर लाल मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, बीड़ी बनानेवाला चुपचाप बीड़ी बनाता चला जा रहा है। और ऐसी दुपहर में यहाँ अँधेरा है। पर ऐसा कौन था जो उसका पीछा कर रहा था? वह देखता है, हजारों प्रश्न लाल बर्रों से उसके हृदय के अंधकार मार्ग पर वेग के कारण सूँ-सूँ करते उसका बराबर पीछा कर रहे हैं। उसको पकड़ना चाहते हैं। मार डालना चाहते हैं।

वह दौड़ते-दौड़ते ठहर जाता है और धीरे-धीरे चलने लगता है, और मानो वे हजारों प्रश्न अपने करोड़ों ही डंकों को ले कर उसके आस-पास मँडराने लगते हैं। वे उसको व्याकुल कर देते हैं और वह नि:सहाय उनमें घिर जाता है, और निकल नहीं पाता।

परंतु फिर भी एक उद्धार का रास्ता है, एक स्थान है जहाँ वह निश्चित आश्रय पा सकता है। परंतु क्या वह मिल सकेगा?

उफ! कितनी घृणा! कितनी शर्म! इससे तो मर जाना ही अच्छा, जब कि आधारशिला डूब रही हो। मूल स्रोत ही सूख रहा हो। वह है, तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ भी नहीं! कुछ भी नहीं!

'हाय, माँ', वह चिल्ला उठता है। परंतु वह अपनी माँ को नहीं पुकारता; वह विश्वात्मक मातृ शक्ति को पुकारता है कि वह आए और उसको बचाए। वह कर क्या सकता है; वह अपने आँचल से उसे न हटाए।

'हाय! परंतु क्या मेरा यह भी भाग्य है! तो फिर मुझे माता ही क्यों दी! वह मर...' और वह अपनी जबान काट लेता है, सोचता है शायद वह गलत हो, जो कुछ सुना है, जो कुछ सुनता आ रहा है वह भी गलत हो। सब गुछ गलत हो सकता है, जैसे सब कुछ सही हो सकता है! भाग्य की ही परीक्षा है तो फिर यही सही!

और उस लड़के को याद आ गया कि किस तरह स्कूल के लड़के उसे छेड़ते हैं, उसे तंग करते हैं, वह उनसे लड़ता है। मार खा लेता है। उसके मित्र भी उसे बेईमान समझने लगे हैं, क्योंकि वह तो ऐसी माता का सुपुत्र है। वे विषपूर्ण ताने कसते हैं। व्यंग्य भरी

मुसकान मुसकराते हैं। क्या वे जो कुछ कहते हैं, सच है? क्या काका का और मेरी माँ का - छिः छिः, थूः थूः, छिः छिः, थूः थूः!

और वह तेरह बरस का लड़का रास्ते चलते-चलते घृणा और लज्जा की आग में जल जाता है। काका (जो उसके काका नहीं हैं) और माँ को उसने कई बार पास बैठे हुए देखा है। पर उसे शंका तब नहीं हुई। कैसे होती? पर आज वह उसको उसी तरह घृणा कर रहा है, जैसे जलते शरीर के मांस की दुर्गंध!

परंतु फिर भी उसे विश्वास-सा कुछ है। वह सोच रहा है, शायद ऐसा न हो।

और वह लड़का अति व्याकुल हो कर अपने पैर बढ़ा लेता है। अँधेरी गलियों में से होता हुआ अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए चल पड़ता है।

जब वह घर की देहरी पर थमा तो पाया माँ सो रही है।

एक बोरे पर सुशीला सोई हुई थी। सिर के पास ही लुढ़क कर गिर पड़ी थी, कोई पुस्तक! शांत, सुकोमल मुख निद्रा-मग्न था। आँखें मुँदी हुई थीं जिन पर कमल वार दिए जा सकते हैं। चेहरे पर कोमलतापूर्ण स्निग्ध माधुर्य के शांत-निर्मल सरोवर के अचंचल जलप्रसार-सा पड़ा हुआ झीना नीलम चाँदनी की प्रसन्नता के समान दिखलाई देता था। अस्तव्यस्तता के कारण गोरा पतला पेट खुला दिखलाई देता था और वह उसी तरह पवित्र सुंदर मालूम होता था, जैसे दो सघन श्यामल बादलों के बीच में प्रकाशमान चंद्र पैर उघाड़े फैले हुए थे मुक्त, जैसे जंगल में कभी-कभी बदली के लाल फूल वृक्ष की मर्यादा छोड़ कर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होते हुए हरी घास के ऊपर अपने को ऊँचा कर देते हैं, फैला देते हैं। ऐसी यह सुशीला, गरिमा और स्त्रीसुलभ कोमलता से पूर्ण सोई हुई थी। उसके भाल पर सौभाग्य-कुंकुम नहीं था। उसके स्थान पर गोदा हुआ छोटा नीला-सा दाग जरूर दिखलाई देता था, और वह अपने कमनीय तारुण्य में वैधव्य लिए हुए उसी तरह दिखलाई देती थी जैसे विस्तृत रेगिस्तान में फैली हुई, ठिठुरते हुए शीतकाल में पूर्णिमा की चाँदनी।

लड़के ने माँ को देखा कि यह वही पेट है, यह वही गोद है। उसके स्नेह-माधुर्य की उष्णता कितनी स्पृहणीय है!

और वह प्रश्न अधिक कटु हो कर, दाहक हो कर, दुर्दम हो कर उसे बाध्य करने लगा। वह अपनी प्रेममयी माता से घृणा करे या प्रेम करे! यह प्यारी-प्यारी गोद, यह गरम-गरम स्नेह-भरा पेट जिसमें वह नौ महीने रहा - क्या उससे घृणा करनी ही

पड़ेगी? पर उफ! यदि उसको संतोष हो जाए कि माँ ऐसी नहीं है, कि वह पवित्र है, यदि वह स्वयं इतना कह दे कि कहनेवाले लोग गलत कहते हैं - हाँ वे गलत कहते हैं - तो उसे संतोष हो जाएगा! वह जी जाएगा! उसकी प्यारी-प्यारी माँ और वह!

एक-दो मिनट वह वैसा ही खड़ा रहा। और फिर वह उसके पास गया और उसके पेट पर सिर रख दिया। न जाने कहाँ से उसकी रुलाई आने लगी और वह रोने लग गया! लोगों के किए हुए अपमान, व्यंग्य का दु:ख बहने लगा। पर वह तब तक ही था जब तक माँ सो रही थी। वह चाहता था कि वह सोई ही रहे कि तब तक वह उस गोद को अपनी गोद समझ सके, जिस गोद में उसने आश्रय पाया है।

लड़के के गरम आँसुओं के स्पर्श से सुशीला जाग उठी। देखा तो नरेंद्र गोद में रो रहा है। उसे आश्चर्य हुआ, स्नेह भर आया। उसको पुचकारा और पूछा, 'क्यों? स्कूल से इतनी जल्दी कैसे आए, अभी तो ढाई भी नहीं बजा है।'

जैसे ही माँ जगी, नरेंद्र का रोना थम गया। न जाने कहाँ से उसके हृदय में कठोरता उठ आई जैसे पानी में से शिला ऊपर उठ आई हो और भयानक दाहक प्रश्नमयी ज्वाला उसके मन को जलाने लगी। सुशीला ने नरेंद्र के गालों पर हलकी थप्पड़ जमाते हुए कहा, 'बोलो न?'

और नरेंद्र गुम-सुम! उसके गाल न जाने किस शर्म से लाल हो रहे थे, आँखे जल रही थीं।

नरेंद्र माँ की गोद में ही पड़ा था पर उसका उसे अनुभव नहीं हो रहा था।

'माँ,' उसने कठोर, काँपते-सकुचाते हुए पूछा।

सुशीला शंकातुर हो उठी 'क्या?'

'सच कहोगी?' उसने दृढ़ स्वर में पूछा।

सुशीला ने अधिक उद्विग्न हो कर कहा, 'क्या है? बोल जल्दी।'

नरेंद्र ने धीरे-धीरे गोद में से अपना लाल मुँह निकाला और माँ की ओर देखा। उसका वही, कुछ उद्विग्न पर स्मितमय, सुकोमल चेहरा! मानो वह अमृत वर्षा कर रही हो। आशा का ज्वार उमड़ने लगा! तो वह मेरी ही माता रहेगी।

उसने फिर कहा, 'सच कहोगी, सचमुच!'

'हाँ रे!'

'माँ, तुम पवित्र हो? तुम पवित्र हो, न?'

सुशीला को कुछ समझ में नहीं आया, बोली, 'मानी?'

नरेंद्र ने विचित्र दृष्टि से देखा। और सुशीला का आकलनशील मुख स्तब्ध हो गया। निर्विकार हो गया। गट्ठर हो गया। उसकी जाँघ, जिस पर नरेंद्र पड़ा हुआ था, सुन्न पड़ गई। उसे मालूम ही नहीं हुआ कि कोई वजनदार वस्तु नरेंद्र नाम की उसकी गोद में पड़ी है।

उसने नरेंद्र को एक ओर खिसका दिया और चुपचाप आँखों में हिम्मत ले कर उठी, जैसे दीवार पर छाया उठती हुई दीखती है, जिसकी अपनी कोई गति नहीं है। उसके हृदय में एक तूफान, जीवन का एक आवेग उठ खड़ा हुआ। मानो वह वेगवान बवंडर जिसमें धूल, कचरा, कागज, पत्ते, कंकर-काँटे सब छूट पड़ते हैं। और वह उसी प्रवाह से शासित हो कर उठ खड़ी हुई और चली गई अंदर, घर के अंदर मानो खूब धूप में पानी के ऊपर से उठता हुआ वाष्प-पुंज लहरा कर आसमान में खो जाता है।

नरेंद्र की नैया मानो इस महासागर में डूब गई। उसके जहाज के टुकड़े-टुकड़े हो गए उसी के सामने। वह क्रंदनविह्वल हो कर रोना चाहने लगा खूब ऊँचे स्वर से कि आसमान भी फट जाए, धरती भी भग्न हो जाए! वह ऊँचे स्वर में पुकारने लगा, 'माँ' मानो कोई यात्री टूटे हुए जहाज के एक तख्ते से लग कर जो कि उसके हाथ से कभी भी छूट सकता है, घनघोर लहराते हुए समुद्र में अपनी रक्षा के लिए चिल्ला उठता है! मरणदेश से वह जीवन के लिए कातर-पुकार!

पर यह सत्यानाश उसके हृदय के अंदर ही हुआ और उसका नि:सहाय रोदन स्वर भी उसके हृदय में। बाहर से वह फटी हुई आँखों से संसार को देख रहा था। क्या यह उसके प्रश्न का जवाब था? वह सिपिट गया, ठिठुर गया जैसे संसार में उसे स्थान नहीं है। और एक कोने में मुँह ढाँप कर वह सिसकने लगा।

सुशीला अंदर चली गई जहाँ सामान रखा जाता है। वहाँ बैठ गई एक डिब्बे पर। कमरे में सब दूर शांत अंधकार था।

अरे, यह लड़का क्या पूछ बैठा। कौन-से पुराने घाव की अधूरी चमड़ी उसने खींच ली? वह क्या जवाब दे जब कि वह स्वयं ही प्रश्न लाई है। यही तो है जिसका जवाब वह चाहती है दुनिया से; सबसे?

और सुशीला की आँखों के सामने एक पुरानी तसवीर खिंच आई। तब नरेंद्र का जन्म हुआ था एक गाँव में। एक अँधेरा कमरा जिसको सावधानी से बंद कर दिया गया था चारों ओर से ताकि हवा न आ सके। सुशीला खाट पर शिथिल पड़ी थी। तब वह सोलह बरस की थी और पास ही में शिशु नरेंद्र और 'वे' दरवाजे के सामने खड़े थे। हाँ, 'वे' जिनकी घुँघराली मूँछों में मुसकान समा नहीं रही थी। वे प्रसन्न थे। वे चालीस वर्ष पार कर रहे थे, तो क्या हुआ। वे बड़े प्रेम से सुशीला से बरतते थे। बहुत हृदय से उन्होंने सुशीला के स्त्रीत्व को सँभाला। उस पर अपना आरोप नहीं होने दिया।

एक समय की बात है कि वे बहुत खुश थे। न जाने क्यों? वे बिस्तर पर लेटे हुए थे। नरेंद्र पास ही खेल रहा था। सुशीला उनके पास बैठी हुई थी। तब एकाएक न जाने किस भावनावश दुःखी होते हुए कहा, 'सुशी, मैंने तुम्हें बहुत दुःख दिया है।' और वे यथार्थ दुःख से दुःखी मालूम दिए।

'क्यों, क्या?'

'मैं तुमको सुख नहीं दे सका?'

'ऐसा मत कहो।'

'नहीं सुशीले, मैं अपने को धोखा नहीं दे सकता। मैंने तुम्हारे प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है।'

'हो क्या गया है तुम्हें आज - तुम ऐसा मत कहो, नहीं तो मैं रूठ जाऊँगी।' और सुशीला हँस पड़ी। लेकिन 'वे' नहीं हँसे।

वे कहते चले। मुझे तुमसे विवाह नहीं करना था, तुमको एक सलोना युवक चाहिए था, जिसके साथ तुम खेल सकतीं, कूद सकतीं। और वे सुशीला के पास सरक आए, उसकी मोह-भरी गोद में लुढ़क पड़े। अपना मुँह छिपा लिया उसमें। शायद, वे रो रहे थे, न जाने किस रुदन से, सुख के या दुःख के। पर सुशीला का स्नेहमय हाथ उनकी पीठ पर फिर रहा था। इतने प्रौढ़, पर इतने बच्चे! इतने गंभीर पर इतने आकुल! और सुशीला के हृदय में वह क्षण एक मधुर सरोवर की भाँति सुखद लहरा रहा था।

आज अपवित्रा सुशीला की आँखों में यह चित्र मेघों की भाँति घुमड़ कर हृदय में श्रावण-वर्षा कर रहा है। इतना विश्वस्त सुख उसे फिर कब मिला था? जीवन के कुछ क्षण ऐसे ही होते हैं, जो जन्म-भर याद रहते हैं। उनके अपने एक विशेष महत्वरूपी प्रकाश से वे नित्य चमकते रहते हैं।

और न मालूम किस घड़ी 'वे' बीमार पड़ गए। उनकी विशाल शक्तिहीन देह मरणासन्न हो गई। वह दृश्य सुशीला की आँखों में तैर आया। मरणशैया पर पड़े हुए पति, अँधेरे कमरे में उपचार करनेवाली केवल एक सुशीला और नरेंद्र! फिर वही दृश्य, पर कितना बदला हुआ! वही एकांत पर कितना अलग! और पति कह रहे हैं, 'मैंने तुम्हारे प्रति अपराध किया है, मैं चला; नरेंद्र को सँभालना।' और नरेंद्र को बुलाते हैं, सुशीला नरेंद्र को पकड़ कर उनके मुँह के सामने रख देती है। वे चूमने की कोशिश करते हैं और उनकी आँखों से आँसू झर पड़ते हैं और फिर वे सुशीला को कहते हैं, 'मैंने तुम्हारा अपराध किया है।' और सुशीला रोती हुई 'नहीं-नहीं' कहती है, समझाने की कोशिश करती है और वे कहते हैं, 'नरेंद्र को सँभालना।' इतने में मामा आ जाते हैं। सुशीला हट जाती है।

अंतिम क्षण! पति के अंतिम श्वास की घर्राहट! और सुशीला का हृदय भग्न, फिर ऊँचा रोदन स्वर! मानो अब वह आसमान को फाड़ देगा!

वे कितने अच्छे थे! कितने स्नेहमय! कितने गंभीर! कितने कोमल!

और अपवित्रा सुशीला फिर से दहाड़ मार कर रो पड़ती है। क्या उनको कभी यह मालूम था कि सुशीला को आगे कितना कष्ट सहना पड़ेगा।

यदि आज 'वे' होते, चाहे जैसे भी हो, तो क्या इतना दु:ख होता। कितनी सुरक्षित होती वह! मजाल होती किसी की कि कोई कुछ कह ले। उन्हीं तीस रूपयों में वह अपनी गरीबी का सुख भोगती।

परंतु विधि किसके इच्छानुसार चलता है? जब सुख बदा नहीं है, तो कहाँ से मिलेगा!

घर के ठीकरे, कुछ सोना-चाँदी की वस्तुएँ बेच-बाच कर... और उसके जीवन में - विधवा के जीवन में अचानक उसका आना - एक का आना!

और रोती हुई सुशीला के सामने एक दृश्य आता है! दुपहर! नरेंद्र सात वर्ष का है। वह एक का स्वेटर बुन रही है जिसके चार रुपए मिलेंगे। सारा ध्यान उसकी एक-एक सीवन में लग रहा है। बाहर दुपहर फैली हुई है, भयानक!

उस समय नरेंद्र आता है, कहता है 'काका' आए हैं। काका पड़ोस में रहते हैं। एक तरुण है, अर्धशिक्षित और वह खेलने चला जाता है।

वे आते हैं अत्यंत नम्र, शालीन! क्यों? कुछ मालूम नहीं है? शायद वे उसके स्वर्गीय पति के कोई लगते हैं!

पर जब वे चले जाते हैं तब उसका हृदय उनकी सहानुभूति से आर्द्र हो जाता है। उनकी मानवतामय उदारता उसके हृदय को छू जाती है। वह उनका आदर करने लगती है। वे उसके पूज्य हो उठते हैं।

उनकी स्त्री होती है। रूग्णा! ईमानदार! और एक बच्चा सुधीर।

अब सुशीला उनके यहाँ आने-जाने लगी है। पति को इतनी फुर्सत नहीं होती है कि वह हमेशा बैठा रहे, स्त्री के पास। सुशीला उनकी सेवा करती है। नरेंद्र सुधीर के साथ खेलता हैं

ऐसे भी दिन थे। बहुत अच्छे दिन थे। निकल गए। निकल जानेवाले थे! और वह समय आया जहाँ जीवन की सड़क बल खा कर घूम गई और वहाँ एक मील का पत्थर लग गया कि जीवन अब यहाँ तक आ गया है।

वह मील का पत्थर था काका की स्त्री का मरना! कई दिनों के बाद जब सुशीला नरेंद्र को ले कर उनके यहाँ गई तो सुधीर उनके पास खड़ा था।

वे रो पड़े। सुशीला चुपचाप बैठी रही। क्या कहती वह? वे और सुधीर, सुशीला और नरेंद्र! क्या ही अजब जोड़ा था!

सुशीला जब लौटी तो सोच रही थी कि मुझे उनके पड़ोस में ही जा कर रहना चाहिए, जिससे कि उन्हें दिलासा हो और उनकी जिंदगी आराम से कटने लगे।

वह कितनी सुखमय पवित्र भूमि थी जिस पर उन दोनों का स्नेह आ टिका था। वे दोनों आमने-सामने बैठ जाते - बीच में चाय का ट्रे और दोनों बच्चे!

वे कब एक-दूसरे की बाँहों में आ गए, इसका उनको स्वयं पता नहीं चला! भले ही वे अलग-अलग रहते हों, पर वे एक-दूसरे के सुख-दु:ख में कितने अधिक साथी थे।

और अपवित्रा सुशीला सोच रही है अपने अँधेरे कमरे में कि उन्होंने मेरे जीवन की दोपहर में अपनी सहानुभूति का गीलापन दिया। फिर प्रेम दिया। मैं भीग उठी, उनसे प्रेम किया और न जाने कब तन भी सौंप दिया! उन दोनों का घर एक हो गया।

और एक रात!

दोनों बच्चे सो रहे थे। वह उनके लिए जाग रही थी। उसकी आँखे नहीं लगती थीं। वे आ गए अपने सारे तारुण्य में मस्त।

और जब वह उनके विह्वल आलिंगन में बिंध गई तो अचानक सुशीला को अपने पतिदेव का खयाल आया। उनका स्नेहाकुल मुख कह रहा था, 'तुमको सलोना युवक चाहिए था!'

उस वक्त सुशीला ने कहा था, 'नहीं' 'नहीं'।

पर आज वह कह रही थी, 'हाँ' 'हाँ'। और वह अधिक गाढ़ हो कर उन पर छा गई। पति का खयाल उसे फिर भी था।

आज अपवित्रा सुशीला आँखों में आँसू ले कर और हृदय में ज्वार ले कर सोच रही है कि उसे अपने जीवन में कहीं भी तो विसंगति मालूम नहीं हो रही है। फिर उसके पति को भी विसंगति कैसे मालूम होती। एक सिरा 'पति' है, दूसरा सिरा 'काका'! पर इन दोनों सिरों में खोजते हुए भी विरोध नहीं मिल रहा है। वह उस सिरे से इस सिरे तक दौड़ती है - इस सिरे से उस सिरे तक। पर सब दूर एक स्वाभाविक चिकनाहट! फिर वह किस तरह अपवित्र हुई। यह भी कोई समझाए। उसकी शुद्ध सरल आत्मा में कैसे अपवित्रता आ लगी?

यह सुशीला का प्रश्न है? कोई उत्तर दे सकता है? कमरे में वैसे ही अँधेरा है। बाहर नरेंद्र बैठा होता। दुपहर ढल रही है।

सुशीला अंदर उद्विग्न है। सोच रही है कि मान लो किसी स्त्री का पति इतना उदार न होता, जैसे मेरे थे तो भी क्या 'काका' सरीखे पुरुष के साथ वह अपवित्र हो जाती! क्या वह सब हृदय का धागा, जिसमें भाग्य के रंग बुने हुए हैं, अपवित्र हो गया? तो फिर पवित्र कौन है?

और सुशीला की आँखों के सामने एक चित्र आया! स्वर्ग में ईश्वर अपने सिंहासन पर बैठा है! न्याय हो रहा है! सब लोग चुपचाप खड़े हैं! सुशीला आती है। उसके हाथ-पैर जकड़ दिए गए हैं, उसी के समान दूसरी हजारों स्त्रियाँ आती हैं! ईश्वर पूछता है, 'ये कौन हैं?'

हवलदार कहता है, 'अपवित्रा स्त्रियाँ।'

सुशीला पूछ बैठती है, 'तो फिर पवित्र कौन हैं?' ईश्वर के एक ओर पवित्र लोग श्वेत-वस्त्र परिधान किए हुए कुरसियों की कतार पर बैठे हैं।

क्रोधपूर्वक ईश्वर उनसे पूछता है, 'क्या तुम सचमुच पवित्र हो?' सभी लोग ईश्वराज्ञानुसार अपने अंदर देखने लगते हैं; पर वे पवित्र कहाँ थे!

सुशीला चिल्ला उठती है उन्मादपूर्वक, उनको कुरसियों पर से हटाया जाए।

चित्र चला जाता है। सुशीला को नरेंद्र का खयाल आता है। वह बाहर बैठा होगा! उसको लड़के छेड़ते होंगे। बात तो कब की फैल गई है। उफ, उसका भविष्य! नहीं मुझे उसी के भविष्य की चिंता है!

और सुशीला के हृदय में कटुता, चिंता, विषाद भर आता है।

हम दोनों साथ-साथ, पास-पास बैठते हैं, पर अब तक तो उसने कभी भी ऐसा नहीं किया। उसने तो उसे स्वाभाविक मान लिया। उसकी सारी सहज पवित्रता की सरलता को उसने स्वीकार कर लिया।

फिर यह कैसा प्रश्न? कैसी महती विडंबना है! और मेरे प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है। है हिम्मत किसी में...?

इतने में नरेंद्र के साथ बहुत कुछ हो गया। काका चले आए। वे पढ़ते हुए बैठे रहे। नरेंद्र घृणा से जल रहा था। वे कुछ पूछते तो उन्हें वह काट खाता। यही तो है वह पुरुष जिसने उससे, उसकी माता को छीन लिया।

भाग्य था कि काका वहाँ से चले गए। नरेंद्र सोच रहा था कि वह उन्हें मार डालेगा। पर वह चले गए तो आत्महत्या करने की सोचने लगा। वह फौरन जा कर अपनी जान दे देगा। उफ, तीन घंटे कितने घोर हैं।

माँ न जाने किस दु:ख से शिथिल-सी चली आई। उसका चेहरा तप्त था, हृदय जल रहा था। पर उसमें आँसुओं की बाढ़ आ रही थी।

नरेंद्र मुँह ढाँपे बैठा हुआ था।

सुशीला उसके पास चली गई। एकदम उसको अपनी गोद में ले लिया। उसकी आँखों से जल-धारा बरसने लगी और वह जोर-जोर से चुंबन लेने लगी। नरेंद्र ने देखा जैसे

उसकी माँ उसे फिर मिल गई हो; पर वह खोई ही कहाँ थी? फिर भी वह कुंठित था, अकड़ा ही रहा।

सुशीला अतिलीन हो बोली, 'तुम मुझे क्या समझते हो नरेंद्र?'

नरेंद्र सोचता रहा। उसकी जबान पर आ गया, पवित्र; पर कहा नहीं; उसकी गोद में चिपक गया और उसके आँसू सहस्त्र धारा में प्रवाहित होने लगे। युग-युग का दु:ख बहने लगा। तब वे सच्चे माँ-बेटे थे।

सुशीला ने डरते-डरते पूछा, 'तुम उनको, 'काका' को गैर समझते हो? साफ कहो!'

नरेंद्र ने सोचा; कहा, 'नहीं।'

सुशीला ने पूछा, 'नहीं न!' और उसका मुँह नरेंद्र के मन में समाया हुआ था।

सुशीला ने रोते हुए कहा, 'तुम कभी उनको तकलीफ मत देना... अँ।'

नरेंद्र ने कहा, 'नहीं, माँ।'

सुशीला स्थिर हो गई। जाने किस हवा से मेघ आकाश से भाग गए।

वह तीव्र हो बोली, 'तो मैं अपवित्र कैसे हुई!' नरेंद्र के सामने वे सब लड़के, दूसरे लोग आने लगे, जो उसे इस तरह छेड़ते हैं। उसने त्रस्त हो कर कहा, 'लोग कहते हैं।'

सुशीला और भी तीव्र हो गई। बोली, 'तो तुम उनसे जा कर क्यों नहीं कहते, बुलंद आवाज में कि मेरी माँ ऐसी नहीं है।'

नरेंद्र ने कहा, 'वे मुझे छेड़ते हैं, मुझे तंग करते हैं, मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।'

'तुम बुजदिल हो।'

और यह शब्द नरेंद्र के हृदय में तीक्ष्ण पत्थर के समान जा लगा। वह बच्चा तो था लेकिन तिलमिला उठा। उसे भूला नहीं। अमूल्य निधि की भाँति उस घाव के सत्य को उसने छिपा रखा।

और मैं एक दिन पाता हूँ कि नरेंद्र कुमार एक कलाकार हो गया है। मैं एक गाँव में मास्टरी करता हूँ पंद्रह रुपए की, सुशीला मर गई है। पर मैं यहीं दुनिया के आसमान में एक कृपाण की भाँति तेजस्वी उल्का का प्रकाश छाया हुआ देख रहा हूँ, जिसकी पूजा

सब लोग कर रहे हैं। मुझे बाद में मालूम हुआ कि यह नरेंद्र कुमार का प्रकाश है। सुशीला की जन्मभूमि, हमारा गाँव, धन्य है!